साम्प्रदायिक हिंसा और मुसलमानों की नुमाइंदगी

हिलाल अहमद

अनुवाद : ध्रुव नारायण

यह आलेख इस दोहरे सवाल पर ग़ौर करता है कि क्या आज़ाद भारत में मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा और साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं के बीच कोई अंतर्संबंध है? यदि हाँ, तो 1992 के बाद के काल में इस जटिल अंतर्संबंध का स्वरूप क्या रहा है? इस सवाल के पहले हिस्से के बारे में काफ़ी कुछ लिखा गया है। भारत में साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर अब तक के लेखन में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के सवाल पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से काफ़ी विस्तार से ग़ौर किया गया है। पॉल ब्रास, आशुतोष वार्ष्णेय और स्टीवन विलकिंसन के लेखन हमें ख़ेमाबंद राजनीति और हिंसा के बीच के अंतर्संबंध के सवाल पर कुछ सटीक सैद्धांतिक और अनुभवजन्य तर्कों से परिचित कराते हैं।

लेकिन, हमारे सवाल का दूसरा हिस्सा अलग तरह की चुनौतियाँ पेश करता है। बाबरी मस्जिद के विध्वंस ने साम्प्रदायिक राजनीति को नये मुक़ाम पर ला खड़ा किया। हालाँकि साम्प्रदायिक आधार पर संगठित हिंसा की वारदातें पहले भी होती रहती थीं पर 1992 के बाद उनकी बारम्बारता और तीव्रता में भारी बदलाव आया। इस कालखण्ड में साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं के दो स्वरूप दिखते हैं— ऐसे दंगे जिनकी तीव्रता कम थी यानी जिनमें जान-माल का नुक़सान अपेक्षाकृत कम हुआ, और दूसरे जिनकी तीव्रता काफ़ी ज़्यादा थी और जो किसी ख़ास समुदाय के ख़िलाफ़ संचालित थे (मसलन, 2002 में गुजरात का दंगा और 2013 में मुज़फ़्फ़रनगर का दंगा)। दोनों ही मामलों में हिंसा ख़ास इलाक़े/राज्य तक सीमित रही और उसका विस्तार दूसरे इलाक़ों में नहीं हुआ। इन दंगों का फैलाव भले ही सीमित रहा हो इनका असर काफ़ी दूरगामी था। ये दंगे बेतरह छवि-प्रधान थे। इन दंगों में चौबीसों घंटे चलनेवाले चैनलों और मोबाइल फ़ोन ने अहम भूमिका अदा की। साम्प्रदायिक हिंसा के इस नये स्वरूप ने सामुदायिक पहचान को न सिर्फ़ एक नयी परिभाषा दी बल्कि हिंसा की नयी प्रौद्योगिकियों को भी जन्म दिया।

इस लेख में 2013 के मुज़फ़्फ़रनगर दंगों को केंद्र में रखते हुए छवि-प्रधान हिंसा से संबंधित अहम सवालों पर नज़र दौड़ाने के साथ-साथ मुसलमानों की सियासी नुमाइंदगी के मसले पर जारी बहस में सीधे हस्तक्षेप की अकादमिक कोशिश की गयी है। लेख इस आम धारणा की व्यवस्थित

समीक्षा करता है कि मुसलमानों के ख़िलाफ़ साम्प्रदायिक और अन्य प्रायोजित हिंसा की घटनाओं को तभी रोका जा सकता है जब संसद और विधानसभाओं में मुसलमानों की नुमाइंदगी ख़ुद मुसलमान प्रतिनिधि करें।

आलेख में तीन तरह के स्रोतों का सहारा लिया गया है— साम्प्रदायिक हिंसा और मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की शासकीय परिभाषा को समझने के लिए भारत सरकार द्वारा प्रकाशित विभिन्न आधिकारिक दस्तावेज़ों (जैसे कि गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टों और दूसरे दस्तावेज़ों, निर्वाचन आयोग द्वारा प्रकाशित निर्वाचन रिपोर्टों, उत्तर प्रदेश की चुनावी रिपोर्टों और भारतीय संसद के विभिन्न प्रकाशनों) का; स्थानीय लोगों की समझ और राय जानने के लिए 2014-15 में मुज़फ़्फ़रनगर में किये गये विस्तृत साक्षात्कारों और समूह-चर्चाओं का; और हिंसा और चुनावी पसंद के बीच क्या रिश्ता है इसे समझने के लिए 2014 में चुनाव के बाद लोकनीति-एनईएस के सर्वेक्षण में दी गयी तफ़सील का।

साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में मौजूदा समझ

'साम्प्रदायिक हिंसा क्या है?' यह सवाल दो तरह की पेचीदगी पैदा करता है। पहले तो अलग-अलग तरह की हिंसा की घटनाओं के आधार पर कोई सुसंगत आम समझ बना पाना अगर नामुमकिन न हो, तो भी काफ़ी मुश्किल है। हालाँकि इन घटनाओं में एक निश्चित पैटर्न देखा जा सकता है या पॉल ब्रास की तरह 'दंगा प्रणाली' खोजी जा सकती है पर ज़्यादा मुमकिन है कि हिंसा की कोई ख़ास घटना किसी मॉडल में पूरी तरह फ़िट न हो और दो तरह की घटनाओं में भारी अंतर दिखाई दे, ख़ासकर तब जब स्थानीय संदर्भ और लोकाचार पर ग़ौर किया जाए। फिर हिंसा का तौर-तरीक़ा यानी सामूहिक हिंसा को किस तरह से अंजाम दिया गया, यह मामले को और भी पेचीदा बना देता है। प्रचलित परिभाषा के मुताबिक़ 'साम्प्रदायिक हिंसा नस्ल या सम्प्रदाय के आधार पर संगठित हिंसा है'। पर इस परिभाषा की परेशानी यह है कि यह उस सामुदायिक कार्रवाई के स्वरूप को उजागर नहीं करती जिसकी परिणति हिंसक घटना में होती है। बहरहाल, मतलब यह नहीं कि साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में अखिल भारतीय स्तर पर कोई आम समझ बनाना अप्रासंगिक या बेमानी है। साम्प्रदायिक हिंसा दो या कई समुदायों के बीच महज़ तकरार भर नहीं है। दरअसल, हाल के वर्षों में साम्प्रदायिक हिंसा का मतलब बन गया है मूलतः धार्मिक अल्पसंख्यकों, ख़ासकर मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंसा। लिहाज़ा अब सीधे-सीधे यह पूछना ज़्यादा बेहतर होगा कि राजसत्ता भारत में साम्प्रदायिक हिंसा को किस रूप में देखती है? क्या उसकी समझ में कोई बदलाव आया है? शायद इससे हमें साम्प्रदायिक हिंसा के विस्तार की गुत्थी को सुलझाने में मदद मिले। साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में राज्य की समझ पर नज़र दौड़ाने से सच्चर कमेटी की रिपोर्ट आने के बाद से मुसलमानों के हाशियाकरण के मुद्दे पर जारी बहस और साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में शासकीय विमर्श के बीच के रिश्ते को समझने में मदद मिलेगी।

इस चर्चा की शुरुआत हम चर्चित 'साम्प्रदायिक हिंसा रोकथाम विधेयक, 2011' से करते हैं।[1] इस विधेयक का प्रारूप 2002 के गुजरात दंगे के बाद राष्ट्रीय सलाहकार परिषद (एनएसी) ने तैयार किया था, जिसे सरकार ने अंततः 5 फ़रवरी, 2014 को वापस ले लिया।[2] यह विधेयक 'साम्प्रदायिक हिंसा' की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

विधेयक के अनुच्छेद 3 (सी) में कहा गया है :

> 'साम्प्रदायिक और लक्षित हिंसा' का मतलब है और उसमें शामिल हैं वैसे सारे कृत्य, जो स्वतःस्फूर्त हों या नियोजित, जिनसे किसी व्यक्ति और/या सम्पत्ति को नुक़सान पहुँचता हो, जो किसी व्यक्ति

[1] http://www.prsindia.org/uploads/media/draft/NAC%20Draft%20Communal%20Violence%20Bill%202011.pdf. 16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

[2] http://mha nic in/hr_division_new. 16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

के ख़िलाफ़ इसलिए निर्देशित हों कि वह किसी ख़ास समुदाय से है।

'समूह' शब्द की व्याख्या करते हुए अनुच्छेद 3 (ई) में स्पष्ट किया गया है कि 'समूह' का मतलब है भारतीय संघ के किसी राज्य के भीतर धार्मिक या भाषाई अल्पसंख्यक, या अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति।'

विधेयक उन कारणों की क़ानूनी व्याख्या पेश करने की गम्भीर कोशिश करता है जो विभिन्न स्तरों पर साम्प्रदायिक हिंसा को जन्म देते हैं। अनुच्छेद 3 (एफ़) में कहा गया है :

> 'किसी समूह के ख़िलाफ़ शत्रुतापूर्ण माहौल' का मतलब है किसी ख़ास समुदाय के व्यक्ति के ख़िलाफ़ ... निम्नलिखित क़िस्म के कृत्यों के कारण पैदा होनेवाला भय और दबाव का माहौल : (i) उस व्यक्ति के व्यापार या व्यवसाय का बहिष्कार या उसके लिए जीविकोपार्जन दूभर बना देना, या, (ii) उस व्यक्ति को शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा और यातायात-जैसी सार्वजनिक सेवाओं इत्यादि से वंचित कर सार्वजनिक रूप से अपमानित करना या तिरस्कार का कोई अन्य कृत्य, या, (iii) उस व्यक्ति को उसके मौलिक अधिकारों से वंचित करना या वंचित करने की धमकी देना, या, (iv) उस व्यक्ति को अपनी मर्ज़ी के बिना अपना घर या रिहाइश की स्वाभाविक जगह या आजीविका को त्यागने के लिए विवश करना, या, (1) कोई ऐसा कृत्य जो भले ही इस क़ानून के तहत अपराध के रूप में दर्ज हो या न हो पर जिसका उद्देश्य या नतीजा डराना-धमकाना, या प्रतिकूल या अपमानजनक माहौल का सृजन हो।

हिंसा के संदर्भ और उसके शिकार लोगों की पहचान की यह कोशिश नब्बे के दशक में चली उस नीतिगत बहस का ही नतीजा है, जिसने हाशिये के समूहों के प्रतिनिधित्व के सवाल को राजनीतिक मुद्दा बना दिया था। इस मायने में यह विधेयक उन विभिन्न सरकारी और ग़ैर-सरकारी रिपोर्टों का नतीजा है जिनके मुताबिक़ ग़रीब और हाशिये के समूहों को सिर्फ़ सामाजिक और आर्थिक भेदभाव ही झेलना नहीं पड़ता बल्कि वे संगठित हिंसा का भी शिकार बनते हैं। इस संवेदनशील मसले को क़ानून के दायरे में लाने के क्रम में यह विधेयक राजसत्ता को केंद्र में रखता है और सामाजिक शक्ति-संतुलन के ढाँचे के तहत विभिन्न समूहों की श्रेणीबद्ध अवस्थिति को चिह्नित करता है। लिहाज़ा राज्य स्तर पर धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को ऐसे समूह के रूप में चिह्नित किया गया है जिन्हें लक्षित हिंसा से सुरक्षा देने की ज़रूरत है। दूसरे शब्दों में, हिंसा के दो पहलुओं पर ज़ोर दिया गया है : राज्य स्तर पर बाज़ समुदायों का तुलनात्मक हाशियाकरण और हिंसा की घटनाओं की सूरत में सघन रूप से काम करने की ज़रूरत। मसलन, विधेयक की प्रस्तावना में कहा गया है कि :

> क़ानून की नज़र में सबकी समानता और समान क़ानूनी सुरक्षा के अधिकार को सम्मान देने, संरक्षा करने और लागू करने के लिए केंद्र और राज्य सरकारों पर यह दायित्व डालना कि वे अपने अधिकारों का निष्पक्ष और ग़ैर-भेदभावपूर्ण तरीक़े से इस्तेमाल करें ताकि भारतीय संघ के हर राज्य में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ व्यापक आम हिंसा समेत लक्षित हिंसा की रोकथाम की जा सके और उसे नियंत्रित किया जा सके और धर्मनिरपेक्ष जनतंत्र की रक्षा की जा सके।

इस विधेयक की आम तौर पर दो तरह की आलोचनाएँ सामने आती हैं। पहले तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे हिंदुत्ववादी संगठनों की यह शिकायत है कि विधेयक हिंदू-विरोधी है। आंध्र प्रदेश के राज्यपाल को 10 नवम्बर, 2011 को सौंपे गये एक ज्ञापन में कहा गया कि, 'यह विधेयक अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के नाम पर यह मान कर चलता है कि देश में कहीं भी, कभी भी हिंसा हो या दंगे हों बहुसंख्यक समुदाय यानी हिंदू ही उसके जनक और दोषी होते हैं।'[3] पत्र में दो और बातों

[3] http://samvada.org/2011/news-digest/rss-submits-memorandum-to-governor-on-communal-violence-bill-2011/. 16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

की ओर भी इशारा किया गया है— विधेयक के कतिपय प्रावधानों का दुरुपयोग और अखिल इस्लामवादी ख़तरा जो यहाँ के मुसलमानों को हिंदुओं के ख़िलाफ़ जाने के लिए प्रेरित करता है। इसमें कहा गया है कि, 'यह विधेयक इस लिहाज़ से भी नाकाफ़ी है क्योंकि इसने सिर्फ़ भारत के भीतर बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक परिस्थिति को ही ध्यान में रखा है। यह बात पूरी तरह भुला दी गयी है कि धर्म का आज वैश्विक संदर्भ है और वैश्विक स्तर पर छोटे धर्मों को लील लेने की साज़िशें रची जा रही हैं। इस विधेयक को बनाने वालों ने दुनिया भर से भारत में धन के प्रवाह की असलियत को सिरे से नज़रअंदाज़ कर दिया है। इस मुद्दे पर सैमुएल हटिंग्टन के अध्ययनों को ध्यान में रखा जाना चाहिए।' यह आलोचना कोई नयी नहीं है। संघ का हमेशा से यह सोच रही है कि भारतीय मुसलमान कई मायनों में हिंदुओं के लिए ख़तरा हैं। लिहाज़ा वह आत्म-रक्षा के मक़सद से हिंदुओं के सैन्यीकरण पर बल देता रहा है।

दूसरी आलोचना कहीं तकनीकी क़िस्म की है। भाजपा, अन्नाद्रमुक और यहाँ तक कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी कहती हैं कि इससे संघीयता की भावना पर आघात होता है। राज्यसभा में बहस के दौरान भाजपा नेता (जो उस वक़्त सदन के नेता भी थे), अरुण जेटली ने कहा कि :

> मैं ...विधेयक को पेश किये जाने का विरोध करता हूँ। मेरा विरोध मूलत: इस बात पर आधारित है कि विधायी रूप से संसद इस विधेयक को क़ानूनी रूप देने में सक्षम नहीं है। सातवें अनुच्छेद की दूसरी सूची में सार्वजनिक व्यवस्था पहले नम्बर पर है, पुलिस दूसरे नम्बर पर, राज्य की सार्वजनिक सेवाएँ इकतालिसवें नम्बर पर। इसलिए क़ानून-व्यवस्था की शक्ति, पुलिस की शक्ति और राज्य की सेवाओं को विनियमित करने की शक्ति सिर्फ़ राज्य सरकारों को है ... इस विधेयक के ज़रिये राज्य की इन शक्तियों का अतिक्रमण किया जा रहा है ... यह केंद्र सरकार के क्षेत्राधिकार से पूरी तरह बाहर है ... संघीयता भारतीय संवैधानिक क़ानून का महत्त्वपूर्ण अंग है। यह बुनियादी ढाँचे की बात है ... अध्याय दर अध्याय यह विधेयक राज्य के क्षेत्राधिकार का अतिक्रमण है।[4]

भाजपा ने जहाँ प्रक्रिया पर ज़ोर दिया और विधेयक की केंद्रीय बात यानी लक्षित हिंसा को पूरी तरह नज़रअंदाज़ कर दिया वहीं माकपा ने इसके उलट बड़ा बारीक नज़रिया अपनाया। उसके नेता सीताराम येचुरी ने कहा कि :

> ... केंद्र सरकार या भारत की संसद ऐसे किसी विधेयक को क़ानून का रूप देने में विधायी रूप में सक्षम है या नहीं जो राज्यों के क्षेत्राधिकार में हस्तक्षेप करता हो ... यह हमारे संविधान में निहित संघीयता के सिद्धांत का उल्लंघन है ... (पर) साम्प्रदायिक हिंसा के इस मसले पर कोई विवाद नहीं हो सकता। सवाल यह है कि संसद राज्यों के अधिकार-क्षेत्र में हस्तक्षेप या अतिक्रमण कर सकती है या नहीं।[5]

सीपीएम की दुविधा पूरी तरह साफ़ है। साम्प्रदायिक हिंसा का सवाल सीपीएम के लिए एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक मुद्दा है जो 1992 के बाद से उसके वैचारिक दृष्टिकोण की पहचान-सा बन गया है। पर राज्य स्तर पर राजनीतिक ख़ेमाबंदी के दबाव में वह केंद्रीकरण के मुद्दे को भी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती थी। यह उलझन समकालीन भारत में साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में बदलती सरकारी समझ में भी साफ़ झलकती है। 1992 के बाद जारी होने वाले गृह मंत्रालय के सालाना प्रतिवेदन इसकी बेहतर मिसाल हैं।

पिछली सदी के अंतिम दशक और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक की रिपोर्टों में भारी फ़र्क़ दिखता है। उम्मीद के मुताबिक़ नब्बे के दशक की शुरुआत से लेकर मध्य तक की रिपोर्टों में बाबरी मस्जिद/अयोध्या की घटनाओं के प्रति सरकार की प्रतिक्रिया को क़ानून और व्यवस्था शीर्षक के तहत अच्छी-ख़ासी जगह दी जाती थी। वर्ष 1992-1994 के बीच के प्रतिवेदनों में अयोध्या के बारे में

[4] राज्य सभा की असंशोधित कार्यवाही, दिनांक: 05.02.2014. SK-MCM/1A/11.00.

[5] राज्य सभा की असंशोधित कार्यवाही, दिनांक: 05.02.2014. SK-MCM/1A/11.00.

श्वेतपत्र, 1993 में अयोध्या के कतिपय हिस्सों के अधिग्रहण संबंधी अध्यादेश, अयोध्या वारदात की सीबीआई जाँच और साम्प्रदायिक संगठनों पर पाबंदी की चर्चा को शामिल किया गया था। बहरहाल, 1994 से लेकर 2002 के प्रतिवेदनों में साम्प्रदायिक हिंसा की चर्चा नदारद दिखती है, हालाँकि साम्प्रदायिक सौहार्द बहाल करने की सरकारी कोशिशों की चर्चा काफ़ी प्रमुखता से है।

सरकारी प्रतिवेदनों से साम्प्रदायिक हिंसा के इस तरह ग़ायब हो जाने का मतलब यह नहीं कि साम्प्रदायिकता का मुद्दा सार्वजनिक चिंता का विषय नहीं रह गया था। बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद साम्प्रदायिक दंगों के बारे में नागरिक समूहों की रिपोर्टों से अलग ही तस्वीर सामने आती है। इन ग़ैर-सरकारी रिपोर्टों से यह साफ़ पता चलता है कि देश के मुख़्तलिफ़ हिस्सों में साम्प्रदायिक वारदातों का सिलसिला बदस्तूर जारी था। तब फिर सरकारी प्रतिवेदनों से उनका इस तरह ग़ायब होने की क्या वजह रही होगी?

यह कहा जा सकता है कि सरकारी प्रतिवेदनों में साम्प्रदायिक वारदातों की चर्चा कम होने को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं देखा जाना चाहिए। आख़िरकार, गृह-मंत्रालय के प्रतिवेदन साल भर के भीतर प्रशासन के सामने उपस्थित होनेवाले मुद्दों और उनके बरअक्स उठाए गये शासकीय कदमों का सिलसिलेवार ब्योरा भर होते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा की छोटी-मोटी वारदातें सम्भव है कि क़ानून-व्यवस्था के लिहाज़ से उतनी महत्त्वपूर्ण न हों। गृहमंत्रालय के प्रतिवेदनों को इस नज़र से देखने पर 1995-2002 के बीच की साम्प्रदायिक हिंसा के चरित्र पर हमें अलग तरीक़े से विचार करना होगा।

समकालीन विमर्श के दोनों पहलू— लक्षित हिंसा और सामाजिक हाशियाकरण— मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की गुत्थी को सुलझाने के लिए काफ़ी अहम हैं। विधायी संस्थानों को ज़्यादा जवाबदेह और समावेशी बनाने के लिए उनमें मुसलमानों की औपचारिक भागीदारी निहायत ही ज़रूरी है। मुसलमान प्रतिनिधियों को एक ऐसे संस्थागत परिवेश में काम करना होगा जो धर्म के आधार पर प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं करता। इसी वजह से यह ज़रूरी है कि प्रतिनिधित्व के औपचारिक ढाँचे के बाहर मुसलिम नुमाइंदगी के दूसरे रास्तों और ढाँचों की तलाश की जाए जो मुसलमानों की बहुलता का ज़्यादा सटीक तरीक़े से प्रतिनिधित्व कर सके।

अगर हिंसा की वारदातों की तफ़सील में जाएँ दो बातें साफ़ नज़र आती हैं। पहली तो यह कि ये वारदातें काफ़ी स्थानीय क़िस्म की हैं। यह भी कोई नयी बात नहीं है। उत्तर-औपनिवेशिक भारत में साम्प्रदायिक हिंसा के अध्ययनों से यह बात सामने आती है कि कई मरतबा झड़प की स्थानीय वारदातें हिंदू-मुसलमान दंगे का रूप ले लेती हैं। दरअसल, जिन वारदातों में हिंदू और मुसलमान शामिल हों उन्हें साम्प्रदायिक रंग दे दिया जाता है। बहरहाल, 1992 के बाद के दंगे अलग ही मायने में स्थानीय थे। झड़पों की ये घटनाएँ अपने स्थानीय संदर्भ तक सिमटी रहीं। दरअसल, 1994-2002 के दौरान कोई बड़ा राज्यव्यापी दंगा नहीं हुआ। दूसरे, इन छिटपुट वारदातों का साम्प्रदायिकता के बारे में आम राजनीतिक विमर्श पर कोई सीधा असर नहीं पड़ा। इस मुद्दे पर और चर्चा ज़रूरी है।

साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर बहस अकसर चंद महत्त्वपूर्ण घटनाओं के इर्द-गिर्द केंद्रित होती है जिनके आधार पर हर ख़ेमा अपनी चाल तय करता है और अपने वैचारिक नज़रिये को राजनीतिक रूप से उचित ठहराता है। मिसाल के तौर पर, छह दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद के ढहाए जाने और उसके बाद भड़के दंगों का ग़ैर-भाजपा पार्टियाँ बार-बार हवाला देती हैं और उत्तर-बाबरी मस्जिद के संदर्भ में धर्मनिरपेक्ष होने का अपना दावा पेश करती हैं। 2002 के गुजरात दंगे और 2013 का मुज़फ़्फ़रनगर दंगा भी ऐसी ही महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। इसके उलट भाजपा और हिंदुत्ववादी समूह कुछ दूसरी घटनाओं का हवाला देते हैं— पूर्वी उत्तर प्रदेश में 30 सितम्बर, 1990 को पुलिस फ़ायरिंग में

कारसेवकों की मौत और 1993 में सिलसिलेवार बम धमाके। उनके विरोधियों द्वारा जिन घटनाओं का हवाला दिया जाता है हिंदुत्ववादी समूह उनकी एक वैकल्पिक व्याख्या पेश करते हैं। मिसाल के तौर पर कहा जाता है कि गुजरात दंगे (2002) गोधरा की घटना की प्रतिक्रिया थे और इसी तरह 2013 में मुज़फ़्फ़रनगर की हिंसा बलवाइयों के हुजूम द्वारा दो जाट युवकों की हत्या का नतीजा थी। दिलचस्प है कि कोई भी राजनीतिक समूह 1995-2002 के बीच की साम्प्रदायिक घटनाओं को राष्ट्रीय महत्त्व की घटना नहीं मानता। गृह मंत्रालय के प्रतिवेदन भी, जो शासकीय नीति की नुमाइंदगी करते हैं, प्रच्छन्न रूप से इसी राजनीतिक सोच का खुलासा करते हैं।

2002 के गुजरात दंगों ने आधिकारिक विमर्श की भाषा को ही बदल दिया। इन दंगों की 2003 के प्रतिवेदन में विस्तार से चर्चा की गयी। इन घटनाओं को जिस तरह प्रमुखता दी गयी वह शासन की चिंता को दिखलाता है। इस प्रतिवेदन में कहा गया कि :

> गोधरा में 27 फ़रवरी 2002 को 59 लोगों को ज़िंदा जलाए जाने की प्रतिक्रियास्वरूप 28 फ़रवरी और 1 मार्च 2002 को पूरे गुजरात में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक हिंसा भड़क उठी। हिंसा गुजरात के कई शहरों में फैल गयी... हिंसा से निपटने और क़ानून-व्यवस्था की बहाली के लिए राज्य सरकार ने राज्य रिज़र्व पुलिस बल को तैनात किया... पूरे गुजरात में 763 लोग मारे गये (पुलिस फ़ायरिंग में मारे गये 200 लोगों समेत) और तक़रीबन 2400 लोग घायल हुए। उपप्रधानमंत्री ने हिंसा प्रभावित कुछ शहरों की यात्रा की, विभिन्न तबक़ों के लोगों और अधिकारियों से बातचीत की और उनसे साफ़-साफ़ कहा कि किसी भी क़ीमत पर हिंसा पर तत्काल लगाम लगाई जाए और लोगों में जान-माल की सुरक्षा का भरोसा बहाल किया जाए। सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त जज द्वारा न्यायिक जाँच का आदेश जारी किया गया है।[6]

यह बेबाक और निष्पक्ष चित्रण न सिर्फ़ दंगों की व्यापकता की जानकारी देता है बल्कि उनके कारणों की भी चर्चा करता है। इस महत्त्वपूर्ण बदलाव पर विस्तार से चर्चा ज़रूरी है। उत्तर-औपनिवेशिक भारत में ख़ासकर 1992 के पहले सरकारी प्रतिवेदनों में घटनाओं का सपाट चित्रण भर हुआ करता था। वजहों और नतीजों पर कोई चर्चा नहीं होती थी। बहरहाल, बाबरी मस्जिद को ढहाए जाने पर इस तरह का कोई विश्लेषण नहीं दिया गया। भले ही गृह मंत्रालय के वार्षिक प्रतिवेदन में मस्जिद को गिराए जाने की वजहों का ज़िक्र न किया गया हो, पर इस मामले में राज्य सरकार की विफलता को प्रमुखता के साथ उछाला गया। प्रतिवेदन में कहा गया कि :

> अयोध्या में छह दिसम्बर, 1992 को जो कुछ हुआ और उसके बाद जो घटनाएँ घटीं वह सर्वविदित हैं। स्थिति के बारे में संघ के गृहमंत्री ने 18 दिसम्बर, 1992 को संसद में एक बयान दिया। राज्य सरकार ने कहा था कि सांकेतिक कारसेवा होगी और कोई निर्माण कार्य नहीं होगा... इन आश्वासनों के बावजूद प्रभावी क़दम नहीं उठाए गये... राज्य सरकार ने कुछ केंद्रीय अर्धसैनिक बलों की माँग ज़रूर की... पर वे घटनास्थल तक नहीं पहुँच सके क्योंकि साथ चल रहे मजिस्ट्रेट ने उन्हें वापस भेज दिया... संक्षेप में, उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार विवादित ढाँचे की सुरक्षा करने और क़ानून का राज क़ायम रखने में नाकामयाब रही।[7]

बाबरी मस्जिद के विध्वंस और गुजरात दंगों के बारे में इन दोनों सरकारी विवरणों से पूरी तरह साफ़ है कि शासकीय व्याख्याएँ क़रीबी तौर पर राजनीतिक सोच से जुड़ी होती हैं। बाबरी मस्जिद के मामले में केंद्र की तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने 'विवादित' ढाँचे को ढहाए जाने की सारी ज़िम्मेदारी भाजपा की राज्य सरकार पर थोप दी। इसी तरह 2003 के प्रतिवेदन में भाजपा की इस व्याख्या को अंगीकार कर लिया गया कि गुजरात के दंगे गोधरा की वारदात की प्रतिक्रिया थे। मतलब यह कि 1992 के बाद के काल में साम्प्रदायिक विवादों की सरकारी व्याख्या पर राजनीतिक सोच हावी रही है।

---

[6] गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट, 2003, भारत सरकार : 6.

[7] गृह मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट, 1993, भारत सरकार : 6.

2003 के प्रतिवेदन से एक नया चलन शुरू हुआ। गृहमंत्रालय ने अपने प्रतिवेदन में साम्प्रदायिक हिंसा की कुल घटनाओं और उनमें मारे गये और घायल लोगों की तादाद का ब्योरा देना शुरू किया (देखें, तालिका-1)। पहले इस तरह का विस्तृत ब्योरा अकसर संसद में सम्बद्ध मंत्रालय के मंत्री लिखित सवालों के जवाब में देते थे। कहा जा सकता है कि 2003 के बाद से गृहमंत्रालय के प्रतिवेदन ज़्यादा पारदर्शी और ज़्यादा जानकारी भरे होने लगे। पर ऐसा नहीं है कि सूचनाओं का यह जनतंत्रीकरण सरकार के खुलेपन की प्रक्रिया का नतीजा हो। अर्थव्यवस्था के उदारीकरण, राजसत्ता के पीछे हटने, तरह-तरह की मीडिया की बाढ़ और ई-प्रशासन पर ज़ोर से सरकार के कामकाज के तौर-तरीक़ों पर व्यापक असर पड़ा है। गृहमंत्रालय के प्रतिवेदन जो पहले नौकरशाही के कामकाज के ब्योरे के रूप में लिखे जाते थे अब नये सार्वजनिक ग़ैर-सरकारी संगठनों, खुली मीडिया और राष्ट्रीय और वैश्विक आर्थिक प्रतिष्ठानों की ज़रूरतों के मद्देनज़र नये ढंग से लिखे जाने लगे। सरकार के लिए अपनी रिपोर्टों को ज़्यादा पारदर्शी और सुलभ बनाना लाज़िमी हो गया। दंगों की वास्तविक संख्या और उनमें मारे जानेवाले लोगों की संख्या की जानकारी को प्रशासन की दक्षता के पैमाने के बतौर पेश किया जा सकता है।

गृह मंत्रालय के प्रतिवेदनों की प्रकृति में 2008 और 2011 के बीच फिर एक बदलाव आया। सरकार ने यह बताना शुरू किया कि कितनी साम्प्रदायिक झड़पें हिंदू-मुसलमानों के बीच हुईं और कितनी हिंदू-ईसाइयों के बीच। हालाँकि 2011 के प्रतिवेदन के बाद यह सिलसिला बंद कर दिया गया, पर धर्म के आधार पर हिंसा की इस स्वीकारोक्ति का निहितार्थ काफ़ी दूरगामी है। ध्यान में रखना होगा कि कांग्रेस के नेतृत्व वाली संप्रग सरकारों ने धार्मिक अल्पसंख्यकों के संदर्भ में कई महत्त्वपूर्ण नीतिगत फ़ैसले किये थे। मसलन, अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए प्रधानमंत्री के 15-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की गयी, अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय की स्थापना की गयी, मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति की जाँच के लिए सच्चर आयोग का गठन किया गया, और न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र के नेतृत्व में धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए राष्ट्रीय आयोग का गठन किया गया। उत्तर-औपनिवेशिक भारत के इतिहास में पहली बार इन क़दमों के ज़रिये यह स्वीकार किया गया कि धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव होता है और धर्म भी सामाजिक बहिष्करण का आधार हो सकता है। गृहमंत्रालय के प्रतिवेदनों में साम्प्रदायिक घटनाओं का वर्गीकरण इसी सच्चाई को रेखांकित करता है।

अल्पसंख्यकों के लिए उठाए गये इन क़दमों के राजनीतिक निहितार्थ को कम करके नहीं आँका जाना चाहिए। अल्पसंख्यकों के कल्याण के लिए संप्रग सरकार के ये क़दम ख़ास राजनीति से प्रेरित थे। राजिंदर सच्चर समिति की सिफ़ारिशों के क्रियान्वयन की समीक्षा के लिए गठित मूल्यांकन समिति की रिपोर्ट में इसी बात को उजागर किया गया है। कहा गया है कि :

> प्रधानमंत्री के 15-सूत्री कार्यक्रम की कई स्कीमों में काफ़ी कम पैसा है और उनका भी इस्तेमाल काफ़ी सुस्त है। कई वर्षों से उनका इस्तेमाल भी बंद कर दिया गया है... प्रधानमंत्री के 15-सूत्री कार्यक्रम और बहुक्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (एमएसडीपी) की ज़्यादातर स्कीमें क्षेत्रीय विकास स्कीम हैं और उनसे लाभान्वित होने वालों में कितने अल्पसंख्यक हैं यह नहीं कहा जा सकता। दरअसल, देखा जा सकता है कि अल्पसंख्यक बहुल ज़िलों के भीतर स्कीमों को ग़ैर-अल्पसंख्यक बहुल प्रखंडों में लागू किया गया है। हालाँकि ऐसा करना निवेश स्कीम के उद्देश्यों के अनुरूप है पर लक्षित समूह के लिहाज़ से वे दिशाहीन और भटक गयी लगती हैं।[8]

यह मूल्यांकन रिपोर्ट परवर्ती काल में साम्प्रदायिक हिंसा के मसले पर भी एक निश्चित राय रखती है। उसमें कहा गया है कि :

---

[8] *दी पोस्ट-सच्चर इवैल्युएशन रिपोर्ट*, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया : 161.

तालिका-1
गृहमंत्रालय के प्रतिवेदनों के अनुसार साम्प्रदायिक हिंसा (1985-2014)

साल	घटनाएँ	मारे गये	घायल	टिप्पणी
1985-86	2	-	-	पंजाब और आंध्र प्रदेश की दो घटनाओं का ज़िक्र
1986-87	-	-	-	◦ सूचना आख्यान के रूप में। 1986 का दूसरा हिस्सा अपेक्षाकृत शांतिमय रहा पर साम्प्रदायिक समरसता के प्रयत्न पूरे साल चलते रहे (पृ.3) ◦ कुल दर्ज हिंसक वारदातें : 4368.
1987-88	-	-	-	◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान ◦ कुल दर्ज हिंसक वारदातें : 3572
1988-89				◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान
1989-90				◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान
1990-91				◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान ◦ अयोध्या मुद्दे पर सूचना ◦ साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए कबीर पुरस्कार की घोषणा
1991-92				◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान ◦ राष्ट्रीय साम्प्रदायिक सद्भाव प्रतिष्ठान की स्थापना ◦ पूजा स्थल (विशेष उपबंध) अधिनियम, 1991 को उपलब्धि बताया गया ◦ 'वामपंथी उग्रवादी हिंसा' का संवर्ग ग़ायब
1992-93				◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान ◦ अयोध्या मुद्दे और मस्जिद (हालाँकि प्रतिवेदन में मस्जिद शब्द का ज़िक्र नहीं) के विध्वंस की जानकारी ◦ छह दिसम्बर की घटना के बाद उपजी स्थिति से निपटने के लिए की गयी कार्रवाई का ब्योरा
1993-94				◦ सूचना आख्यान के रूप में। सरकारी प्रयत्नों का बखान ◦ अयोध्या पर श्वेतपत्र और अन्य संबद्ध कार्रवाई का ज़िक्र ◦ कबीर पुरस्कार को प्रमुखता
1994-95				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
1995-96				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
1996-97				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
1997-98				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
1998-99				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
1999-2000				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
2000-2001				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
2001-2002				◦ साम्प्रदायिकता पर कोई ठोस जानकारी नहीं
2002-2003	722	1130	4375	सिर्फ़ गुजरात के दंगों का ज़िक्र। 763 मारे गये, 200 पुलिस फ़ायरिंग में। 2400 घायल
2003-2004	711	193	2261	
2004-2005	640	129	2022	
2005-2006	779	124	2066	
2006-2007	698	133	2170	
2007-2008	761	99	2277	
2008-2009	943	167	2354	◦ हिंदू-ईसाई दंगों की 287 घटनाएँ जिनमें 44 मारे गये और 82 घायल ◦ 656 हिंदू-मुसलमान दंगे। 123 मारे गये और 2272 घायल
2009-2010	826	125	2425	750 हिंदू-मुसलमान दंगे। 123 मारे गये और 2380 घायल
2010-2011	658*	111	1971	610 हिंदू-मुसलमान दंगे। 109 मारे गये और 1063 घायल 48 हिंदू-ईसाई दंगे। 2 मरे, 8 घायल
2011-2012	580*	91	1899	
2012-2013	668	94	1899	
2013-2014	823	133	2269	
2014-2015	644	95	1921	

स्रोत : गृह मंत्रालय की वार्षिक रपट

> साम्प्रदायिक हिंसा की छोटी-बड़ी घटनाएँ हैरतअंगेज़ नियमितता के साथ बेरोकटोक जारी हैं। अभियोजन ढीला है और अंदरूनी विस्थापित लोगों का पुनर्वास नाकाफ़ी। फिर भी केंद्र और राज्य दोनों ही स्तर पर इससे निपटने के ईमानदार सरकारी प्रयास लगभग नदारद दिखते हैं... सक्रिय नागरिकता नज़र में आना चाहती है पर बहुत-से मुसलमान औरतों, मर्दों और नौजवानों को डर लगता है कि यदि उन्होंने जनतांत्रिक तरीक़े से अपनी आवाज़ उठाई तो वे राज्य और ग़ैर-राजकीय ताक़तों की नज़रों में चढ़ जाएँगे और उनका कोपभाजन बन जाएँगे।[9]

साफ़ है कि यूपीए सरकार के नीतिगत क़दम सैद्धांतिक ज़्यादा थे। अल्पसंख्यकों के पिछड़ेपन पर रिपोर्ट जारी करना और कल्याण योजनाओं को लागू करना दो अलग-अलग बातें हैं। अल्पसंख्यकों के पिछड़ेपन के विमर्श ने उतने ही दमदार तुष्टीकरण के प्रति-विमर्श को जन्म दिया। यही बात हमें मुज़फ़्फ़रनगर के संदर्भ में भी दिखती है।

अब हम इस सवाल की ओर आते हैं कि राजसत्ता साम्प्रदायिक हिंसा के सवाल को किस तरह देखती है? 1992-2014 के बीच के सरकारी दस्तावेज़ों से दो आम निष्कर्ष सामने आते हैं— पहले तो आधिकारिक तौर पर यह मान लिया गया कि 'साम्प्रदायिक हिंसा' दो या अधिक समुदायों के बीच झड़प भर नहीं है। पारम्परिक प्रशासकीय नज़रिया यह था कि दंगे 'ग़ैरक़ानूनी जुटान' की हिंसक अभिव्यक्ति हैं, पर अब उस सपाट समझ की जगह साम्प्रदायिक विवाद की कहीं ज़्यादा बारीक़ व्याख्या ने ले ली है।[10] दो समुदायों के बीच सामान्य झड़प और किसी ख़ास समुदाय के ख़िलाफ़ लक्षित हिंसा के बीच फ़र्क़ इसलिए किया गया ताकि उस माहौल को क़ानूनी तौर पर बेहतर तरीक़े से समझा जा सके जिसमें किसी ख़ास समूह की एक निश्चित छवि प्रचारित की जाती है ताकि साम्प्रदायिक टकराव का विमर्श पैदा हो सके। इसी वजह से साम्प्रदायिक हिंसा को 'लक्षित हिंसा' के रूप में रेखांकित किया जाता है।[11] गृहमंत्रालय के प्रतिवेदनों में दिये गये साम्प्रदायिक वारदातों से संबंधित वर्गीकृत आँकड़े आम तौर पर इसी बात को उजागर करते हैं।

दूसरे, 1992-2014 के बीच साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में सरकारी समझ पर सामाजिक हाशियाकरण और बहिष्करण के मुद्दे पर 1990 के बाद से जारी बहस का भी असर पड़ा। मिसाल के तौर पर, साम्प्रदायिक और लक्षित हिंसा रोकथाम विधेयक, 2011 हाशियाकरण और लक्षित हिंसा के बीच के अहम संबंध को स्वीकार करता है। हालाँकि यह विधेयक क़ानून की शक्ल नहीं ले पाया, पर उसमें 'समूह' को जिस तरीक़े से परिभाषित किया गया (संघ के किसी भी राज्य के भीतर धार्मिक या भाषाई अल्पसंख्यक या अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ) वह निस्संदेह सकारात्मक क़दमों के विमर्श से प्रभावित थी। इसी वजह से हाशिये के समूहों, इस परचे के लिहाज़ से मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व का सवाल इतना महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

बहरहाल, साम्प्रदायिक हिंसा की ये दोनों समझ प्रतिस्पर्धात्मक राजनीति के तत्कालीन ताने-बाने पर निर्भर है। हमने चर्चा की है कि कैसे बाबरी मस्जिद को ढहाए जाने के लिए उत्तर प्रदेश की भाजपा सरकार को ज़िम्मेदार ठहराया गया और गोधरा की घटना को इस तरह पेश किया गया कि उसकी प्रतिक्रिया में पूरे राज्य में दंगा हुआ। दोनों के आधिकारिक ब्योरों में शासक पार्टी की भूमिका को

---

[9] *दी पोस्ट-सच्चर इवैल्युएशन रिपोर्ट,* गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया : 174.

[10] भारतीय दंड संहिता की धारा 146 के मुताबिक़, 'जब कभी ग़ैरकानूनी जमघट या उसमें शामिल किसी व्यक्ति द्वारा जमाव के सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसा या बल का इस्तेमाल हो तो उस जमाव में शामिल हर व्यक्ति बलवा करने के अपराध का दोषी होगा'.

[11] यह विस्तारित व्याख्या कोई नयी नहीं है. आईपीसी की धारा 153 कहती है — 'जो कोई दुर्भाव से या लम्पटता में, अपने ग़ैरक़ानूनी काम के ज़रिये किसी व्यक्ति को इस मंशा से या यह जानते हुए उकसाता है कि उसके उकसावे के कारण बलवा हो सकता है, बलवा होने की स्थिति में उसे एक साल तक की क़ैद या जुर्माना या दोनों की सज़ा दी जाएगी; और यदि बलवा न हुआ हो तो छह माह की क़ैद या जुर्माना या दोनों की सज़ा दी जाएगी'. हालाँकि ऐसी हिंसा के शिकार की पहचान निहायत ही ज़रूरी है.

नज़रअंदाज़ कर दिया गया। लिहाज़ा हिंसा की शासकीय परिभाषाओं को निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता, बल्कि उन्हें शासक समूह की राजनीतिक ज़रूरतों के मद्देनज़र गढ़ा जाता है। मुज़फ़्फ़रनगर के बारे में सरकारी ब्योरे को भी इसी संदर्भ में देखना होगा।

मुज़फ़्फ़रनगर, 2013 की घटना

मुज़फ़्फ़रनगर की हिंसा के बारे में, जिसमें 50 से ज़्यादा लोग मारे गये दो अलग-अलग लेकिन एक-दूसरे से जुड़ी व्याख्याएँ दी जाती हैं।[12] इसके लिए एक ख़ास घटना को ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। बताया जाता है कि हिंसा की शुरुआत अगस्त, 2013 के अंतिम हफ़्ते में हुई। ज़िले के कवाल गाँव की एक लड़की को एक मुसलमान नौजवान तंग करता था। लड़की के दो भाइयों ने उस नौजवान को मार डाला। हालाँकि बाद में जवाबी हमले में भीड़ ने उन दोनों को भी मार दिया।[13] उत्तर प्रदेश के इस अपराध-ग्रस्त ज़िले के लिए यह कोई अजूबा नहीं है।[14] मीडिया रिपोर्ट और अकादमिक शोध दोनों ही यह दिखलाते हैं कि पारिवारिक मनमुटाव और समुदाय की इज़्ज़त का सवाल मुज़फ़्फ़रनगर में अकसर हत्याओं के सिलसिले को जन्म देता रहा है। पर इस ख़ास मामले में घटनाक्रम ने साम्प्रदायिक दंगे का रंग ले लिया।

कहा जाता है कि स्थानीय अधिकारियों ने हालाँकि धारा 144 लगा कर कोई भी सभा करने पर पाबंदी लगा दी थी, पर 30 अगस्त. 2013 को जुम्मे की नमाज़ के बाद आमसभा आयोजित की गयी। इस सभा में कांग्रेस, सपा और बसपा से जुड़े कई मुसलमान नेताओं ने हिस्सा लिया और गरमागरम

तालिका-2
मुज़फ़्फ़रनगर में औरतों के ख़िलाफ़ अपराध, 2013

बलात्कार	अपहरण	दहेज	शील भंग करने के मक़सद से किया गया हमला	औरत की बेइज़्ज़ती	पति या उसके परिजनों द्वारा क्रूरता
49	214	25	125	0	270

स्रोत : https://data.gov.in/catalog/district-wise-crimes-committed-against-women.

भड़काऊ भाषण दिये। नतीजतन साम्प्रदायिक तनाव बढ़ गया। इस बीच दो जाट युवकों की हत्या की एक जाली सीडी सोशल मीडिया पर जारी की गयी जिससे ध्रुवीकरण और तेज़ हो गया। जवाब में सात सितम्बर को कनवाल गाँव के निकट हज़ारों जाट किसानों की महापंचायत बुलाई गयी।[15]

इस महापंचायत को बुलाने के लिए भाजपा की स्थानीय इकाई सीधे तौर पर ज़िम्मेदार थी। इस महापंचायत को स्थानीय हिंदू नेताओं ने सम्बोधित किया और उन्होंने भी उकसावेबाज़ी में कोई कसर न छोड़ी। लोग जब कार्यक्रम ख़त्म होने के बाद घर लौट रहे थे उन पर बलवाइयों की भीड़ ने हमला किया जिसमें 12 लोग मारे गये। हालात पर क़ाबू पाने के लिए राज्य सरकार ने सेना बुला ली। बहरहाल, दो दिनों तक संगठित हिंसा का यह सिलसिला चलता रहा और मरनेवालों की तादाद 39 पर पहुँच गयी। बहुत-से लोगों ने घर-बार छोड़ कैम्पों की पनाह ली।

[12] आधिकारिक तौर पर माना गया कि इनमें 39 लोग मारे गये और 25,000 लोग विस्थापित हुए. लेकिन सेंटर फ़ॉर दी पॉलिसी एनालिसिस द्वारा संयोजित जाँच-दल की रिपोर्ट इसे ग़लत बताती है (आरएफ़एफ़टी), 2013.

[13] घटना के कई ब्योरे प्रचलित हैं पर यह कहानी सबसे ज़्यादा ग्राह्य है. देखें, आरएफ़एफ़टी, 2013.

[14] इलाक़े में अपराध ख़ासकर औरतों के ख़िलाफ़ अपराध प्रशासन के लिए बड़ी चिंता की बात रही है. औरतों को 'समुदाय की आबरू' के तौर पर देखा जाता है (देखें टेबल 2).

[15] यह दूसरी महापंचायत थी. जाट समुदाय ने इससे पहले 31 अगस्त को एक छोटी सभा की थी.

सवाल है कि जब धारा 144 लागू थी तो ज़िला प्रशासन ने राजनेताओं को दो इतनी बड़ी रैलियाँ करने की इजाज़त कैसे दी ? राज्य सरकार ने इन रैलियों के आयोजकों को गिरफ़्तार क्यों नहीं किया, जबकि बाद में दाख़िल एफ़आईआर में वे नामज़द किये गये ? साज़िश के अंदेशों के आलोक में इन सवालों की गम्भीरता और बढ़ जाती है। लोग अंदेशा जताते हैं कि 2014 के लोकसभा चुनावों के मद्देनज़र हिंदू और मुसलमान वोट की आपस में बंदरबाँट करने के लिए सपा और भाजपा ने गुपचुप हाथ मिला लिया था; या बुनियादी मुद्दों से लोगों का ध्यान भटकाने के लिए कांग्रेस सरकार ने सारा खेल रचा था; और भाजपा की नज़र जाट वोटों को हासिल करने पर टिकी थी। इन अंदाज़ों को 'व्याख्या' और/या 'निष्कर्ष' के बतौर पेश किया जाता है।[16]

इस हिंसा के बारे में कहीं ज़्यादा परिष्कृत और ज़्यादा विस्तृत दूसरा राजनीतिक आख्यान भी है जो भारतीय राजनीति के तहत उभरते नये ताने-बाने और मुज़फ़्फ़रनगर की घटनाओं के बीच प्रत्यक्ष रिश्ता जोड़ने की कोशिश करता है। नरेंद्र मोदी को भाजपा द्वारा प्रधानमंत्री उम्मीदवार घोषित किया जाना और फिर लोकसभा ख़ासकर उत्तर प्रदेश में उनकी जीत, अखिलेश यादव की उत्तर प्रदेश सरकार की नाकामी, उत्तर भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच बढ़ती साम्प्रदायिक झड़पें, 2013 में विश्व हिंदू परिषद की मशहूर अयोध्या यात्रा, लव-जिहाद का मुद्दा, मुसलमानों की आबादी और उनकी राष्ट्रभक्ति पर सवालिया निशान, भारत माता की जय बोलने के ऊपर चली बहस — यह सब हिंदुत्व की साम्प्रदायिक राजनीति के अभिन्न अंग माने जाते हैं। इस आख्यान में बाबरी मस्जिद-राम मंदिर तक़रार के चरम के दौरान हिंदुत्व की राजनीति की हिंसक अभिव्यक्ति के इतिहास को बार-बार उकेरा जाता है।

इन व्याख्याओं की राजनीतिक-नैतिक अहमियत को झुठलाया नहीं जा सकता, ख़ासकर तब जबकि लोगों का एक बड़ा हिस्सा (मूलतः मुसलमान) उससे प्रभावित हो रहा है और एक तरह का हिंदू कट्टरपंथ ठोस राजनीतिक शक्ल ले रहा है।[17] बहरहाल, हमें इस हिंसक वारदात की और गहराई में जाना होगा। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि संदर्भ और समाजशास्त्र की उन बारीकियों को समझा जा सके जो मुख्य घटना की पृष्ठभूमि बनीं, बल्कि इसलिए भी कि उभरती दक्षिणपंथी हिंदुत्व राजनीति की भाषा को बेहतर ढंग से समझा जा सके।

इसके तीन निर्णायक पहलू हैं— (क) मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले की सामाजिक बनावट, ख़ासकर हिंदुओं और मुसलमानों के भीतर का जातिगत विभाजन और धार्मिकता का बदलता स्वरूप, जिसके चलते विभिन्न धार्मिक पहचानों की सार्वजनिक मौजूदगी में भारी अंतर आया है; (ख) तरह-तरह के माध्यमों का तेज़ प्रसार जैसे कि मोबाइल फ़ोन, जिन्होंने हाल के वर्षों में देहाती इलाक़ों में सामाजिक संबंधों को बदल डाला है; और (ग) घटना के वर्णन में भाजपा और हिंदुत्ववादी समूहों ने जिन राजनीतिक मुहावरों का इस्तेमाल किया है उनका ख़ास संदर्भ— आबरू का सवाल या प्रशासन की कमज़ोरी।

जाति और धार्मिकता पश्चिमी उत्तर प्रदेश में समुदायों की पहचान का अभिन्न पहलू रहे हैं। फिर भी हालिया चर्चाओं में जाति और धर्म के इस जटिल मेल पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है। कहा जाता है कि यह 'हिंदुओं और मुसलमानों' के बीच होने वाला सामान्य साम्प्रदायिक दंगा है। हालाँकि कुछ पैनी निगाहवाले पर्यवेक्षक इसे जाट-मुसलमान विवाद मानते हैं। आख़िरकार मुज़फ़्फ़रनगर मुसलमान बहुल ज़िला है और ताज़ा जनगणना के मुताबिक़ ज़िले की कुल आबादी का 42 फ़ीसदी मुसलमान हैं।

जाट और मुसलमान कोई एकरूप समुदाय नहीं हैं। भारतीय किसान यूनियन (बीकेयू) के अपने अध्ययन में गौरांग आर. सहाय ने इस इलाक़े में किसानों की पहचान के निर्माण की जटिल-प्रक्रिया

[16] जाँच-दल की रिपोर्ट भी इन अनुमानों को 'निष्कर्ष' के बतौर पेश करती है.

[17] आधिकारिक तौर पर 6 हिंदू/जाट और 33 मुसलमान मारे गये और विस्थापित होने वालों में बहुतायत मुसलमानों की थी (आरएफ़एफ़टी, 2013).

तालिका-3
मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले की धार्मिक बनावट

धार्मिक समुदाय	आबादी	कुल आबादी का अनुपात
हिंदू	2, 382,914	57.51%
मुसलमान	1,711,453	41.30%
ईसाई	6,495	0.16%
सिख	18,601	0.45%
बौद्ध	1,516	0.04%
जैन	16,345	0.39%
अन्य	60	0.00%
अज्ञात	6,128	0.15%

स्रोत : भारतीय जनगणना, 2011

के संदर्भ में एक रोचक बात की ओर इशारा किया है। वे कहते हैं :

> मुज़फ़्फ़रनगर, मेरठ, बाग़पत, बिजनौर और बुलंदशहर ज़िले में जहाँ बीकेयू का आधार सबसे तगड़ा है तादाद के लिहाज़ से सबसे बड़ी खेतिहर जाति जाट हैं और उसके बाद गुर्जर हैं। ये दोनों इस इलाक़े की 'दबंग जातियाँ' हैं। जाट और गुर्जर दो मुख़्तलिफ़ मज़हबी सम्प्रदायों से जुड़े हैं यानी हिंदू और मुसलमान — हिंदू जाट और मूले जाट हैं तो हिंदू गुर्जर और मूले गुर्जर भी हैं।[18]

विभिन्न समुदायों का समाजशास्त्रीय विन्यास हमें दो दिशाओं में ले जाता है— जाति के लिहाज़ से धार्मिक समूहों की अंदरूनी विविधता और वे सूक्ष्म और दीर्घकालिक प्रकियाएँ जो इस विविधता को धार्मिक रूप से ध्रुवीकृत अस्मिताओं में तब्दील कर देती हैं। इस मुद्दे को विस्तार से समझने के लिए दो उदाहरणों पर ग़ौर करें। उत्तर-बाबरी मस्जिद काल में मुज़फ़्फ़रनगर के दो जाट बहुल गाँवों के अपने मानवशास्त्रीय अध्ययन में जी.के. लीटन ने लिखा है कि :

> उत्तर प्रदेश में 1990 के बाद से चलने वाली हिंदुत्व की आँधी ने कुछ ब्राह्मणों और जाटों को खुल्लम-खुल्ला अपनी धार्मिकता के प्रदर्शन के लिए प्रेरित किया है। गाँव का जो मंदिर उपेक्षित पड़ा था, जहाँ ब्राह्मण औरतें उपवास के दिन कभी-कभार चली जाती थीं उसका जीर्णोद्धार कर दिया गया है और लाउडस्पीकर की मदद से हर सुबह 'कीर्तन' का प्रसारण किया जाता है। स्वरूप भले ही धार्मिक है पर उसकी विषयवस्तु राजनीतिक है। इसका मक़सद है हिंदुओं में जागृति लाना।[19]

यह न सिर्फ़ धार्मिकता के नये रूप के उभार की ओर इंगित करता है बल्कि किसी पहचान की अलग तरह की सार्वजनिक उपस्थिति को भी रेखांकित करता है। हालाँकि इसका मतलब यह नहीं कि हिंदुत्व राजनीति स्थानीय संवेदनाओं पर पूरी तरह हावी हो गयी है। सही है कि जाटों की समकालीन सामाजिक और राजनीतिक पहचान मूल रूप से 'जाति' के संदर्भ में ही अभिव्यक्त होती है, ख़ासकर खेतिहर मुद्दों और आरक्षण की माँग के मामले में, मगर जाति-आधारित लोकाचारों की धार्मिक अभिव्यक्ति को पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता।[20] जिस तरह जातिगत लोकाचार और धार्मिक राजनीति के बीच का फ़र्क़ धीरे-धीरे मिटता जा रहा है उसके चलते सात सितम्बर की 'बहू-बेटी बचाओ महापंचायत' तब्दील होकर 'लव-जिहादियों' से हिंदू मर्यादा की रक्षा का संघर्ष बन गयी।

---

[18] गौरांग. आर. सहाय (2004) : 396-418.

[19] जी.के लिटन (1996) : 1411-16.

[20] इस संदर्भ में डब्ल्यू.सी. स्मिथ आस्था और संचयी परम्परा के बीच फ़र्क़ करते हैं. तलाल असद ने इस अवधारणा की बड़ी प्रासंगिक आलोचना की है. असद कहते हैं — 'आस्था को लौकिक दुनिया की विशिष्टताओं और उसमें व्याप्त परम्पराओं से अलग नहीं किया जा सकता. अगर कोई अमल करने के उलट अपनी आस्था या किसी दूसरे की आस्था को समझना चाहता है तो उसे प्रासंगिक अवधारणा का सहारा लेना होगा, वह भी सार्वजनिक रूप से ऐसी भाषा में जो दुनियावी हो और जिसे सब समझते हों'. देखें, तलाल असद (2001) : 205-22.

मुसलमान इन दंगों के शिकार क्यों बने, यह समझने के क्रम में उनके भीतर जातिगत विविधता और उनकी सार्वजनिक उपस्थिति का मसला भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है पर ज़्यादातर चर्चाओं से यह मुद्दा ग़ायब दिखता है। जाटों की तरह ही मुज़फ़्फ़रनगर के मुसलमान भी बुरी तरह जातियों में बँटे हैं। एक तरफ़ अशराफ़ मुसलमान हैं तो दूसरी तरफ़ ग़ैर-अशराफ़ जातियाँ।[21] मुसलमानों के भीतर जाति की मौजूदगी की सच्चाई को मुज़फ़्फ़रनगर के मुसलमान-बहुल इलाक़ों में आसानी से देखा जा सकता है जहाँ मोहल्ले जाति के आधार पर बँटे हैं।[22]

इलाक़े में मुस्लिम पसमांदा राजनीति का अभ्युदय भी काफ़ी महत्त्व रखता है। उत्तर प्रदेश के पिछड़े मुसलमानों को संगठित करने के मक़सद से 2012 में एक आंदोलन के रूप में पसमांदा क्रांति अभियान की शुरुआत हुई। उसका नारा काफ़ी रोचक था— 'दलित-पिछड़ा एक समान, हिंदू हो या मुसलमान'। दरअसल, आंदोलन का पहला चरण 30 सितम्बर, 2013 को पूरा हुआ। अभियान के परचे के मुताबिक़ :

> पसमांदा आंदोलन जाति को अपनी व्याख्या का मूल आधार बनाकर इस देश से हिंदू-मुसलमान झगड़े को ख़त्म कर देना चाहता है। मुस्लिम राजनीति मुसलमानों और दलितों या मुसलमानों और पिछड़ों के चुनावी समीकरण की बात करती है। इसके उलट, पसमांदा राजनीति दलितों और दलितों, पिछड़ों और पिछड़ों और अंतत: दलितों-पिछड़ों, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, की सामाजिक और सियासी एकता की बात करती है।[23]

पसमांदा क्रांति अभियान का यह परचा अंदेशा ज़ाहिर करता है कि साम्प्रदायिक दंगों और पुलिस ज़्यादतियों के सबसे ज़्यादा शिकार पिछड़े मुसलमान ही बनते हैं। यह अंदेशा कोई मनगढ़ंत नहीं है। ग़ैर-आधिकारिक आकलनों के मुताबिक़ इस दंगे में मारे गये मुसलमानों में ज़्यादातर ग़रीब-पिछड़े थे। बहरहाल, इसका मतलब यह नहीं कि हमलावरों ने मारने के पहले अपने शिकार की जाति या वर्ग का पता कर लिया था। ज़ाहिर है कि इस घटना में सभी मुसलमानों को दुश्मन के तौर पर चिह्नित किया गया था। फिर भी कहा जा सकता है कि मुसलमानों के निस्सहाय, ग़रीब और पिछड़े तबके साम्प्रदायिक हिंसा के आसान निशाना बने ।

पसमांदा राजनीति जहाँ उत्तर प्रदेश की साम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों ही तरह की राजनीति के लिए चुनौती पेश करती है वहीं तबलीग़ी जमात, जो धार्मिक सुधार आंदोलन है, इस्लाम की धार्मिक एकता और धार्मिकता के सार्वजनिक प्रदर्शन पर ज़ोर देती है। तबलीग़ी जमात के विचारों, आदर्शों और अमल ने मुसलमानों की पहचान के सार्वजनिक स्वरूप को काफ़ी हद तक प्रभावित किया है। लिहाज़ा, बिना मूँछ के दाढ़ी रखना, लम्बा कुर्ता और छोटा पाजामा (या तहमद) पहनना और सफ़ेद ताक़ीया/जालीदार टोपी (स्कल कैप) पहनना इस इलाक़े में मुसलमान मर्दों की इस्लामी पहचान का पर्याय बन गये हैं।[24]

मुसलमानों की मौजूदगी की दूसरी अहम शिनाख़्त है गाँवों में मस्जिदों की हरी मीनारें।[25] मुसलमानों की मौजूदगी के इन प्रत्यक्ष प्रमाणों का नतीजा यह हुआ है कि दक्षिणपंथी हिंदू लीडरों के लिए मुसलमानों को तालिबानी और मुसलमान गाँवों को 'मिनी-पाकिस्तान' के रूप में पेश करना आसान हो गया है।

दंगे के बाद निर्माण-कार्यों ख़ासकर जमीयत उलेमा-ए-हिंद द्वारा दंगा-पीड़ितों के लिए फ़िदा-

---

[21] मैं इस विभाजन के राजनीतिक महत्त्व को रेखांकित करने के लिहाज़ से अशराफ़ और पसमांदा शब्द का इस्तेमाल करता रहा हूँ. अशराफ़ के बारे में विस्तृत चर्चा के लिए देखें, इम्तियाज़ अहमद (1967) : 887-891.

[22] अध्ययन के सिलसिले में इलाक़े में जाने पर पता चला कि कवाल गाँव का विवाद मूलत: कुरैशियों (मुसलमान कसाई समुदाय) और जाटों के बीच का झगड़ा था.

[23] पसमांदा क्रांति अभियान (2013) : 11.

[24] मुसलमानों के पहरावे पर विस्तार से चर्चा के लिए देखें, एम्मा टारलो (2010).

[25] इस मुद्दे पर विस्तार से चर्चा के लिए देखें, हिलाल अहमद (2012) : 13-15.

ए-मिल्लत नगर में सस्ते रिहाइशी मकान बनाने के क़दम को मस्जिद-केंद्रित धार्मिकता के बढ़ाव के रूप में देखा जा सकता है। दरअसल, मुसलमानों की प्रतिनिधि आवाज़ के बतौर जमीयत-जैसे नागरिक समूहों का सामने आना एक महत्त्वपूर्ण परिघटना है।

अब दूसरी बात यानी नयी मीडिया के उभार पर ग़ौर करें। हमने ऊपर सरसरी तौर पर मोबाइल फ़ोन के ज़रिये जाली सीडी/एमएमएस के प्रसार के तथ्य का ज़िक्र किया है।[26] यहाँ हमें यह समझना होगा कि तकनीक ने ख़ासकर कैमरे से लैस मोबाइल फ़ोन ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के पूरे सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश पर असर डाला है।

आज के गँवई भारत ख़ासकर बड़े शहरों या विशेष आर्थिक ज़ोन के समीपवर्ती गाँवों की बदलती तस्वीर पर 'चतुर शहर' और 'अज्ञानी गाँव' का परम्परागत मुहावरा फ़िट नहीं बैठता। मोबाइल फ़ोन और डीटीएच ने धार्मिक स्थलों, मनभावन पर्यटन स्थलों, महत्त्वपूर्ण घटनाओं और जंग (या पोर्नोग्राफ़ी या खुलेआम चर्चा से बाहर के मुद्दों) के छायाचित्रों और 'लाइव' प्रसारण के ज़रिये कई 'दृश्य, पर काल्पनिक समुदायों' को जन्म दिया है।[27] इन तस्वीरों को अकसर घटनाओं और दावों की सच्चाई का सबूत मान लिया जाता है। इसलिए बहुचर्चित फ़र्ज़ी एमएमएस की सच्चाई को मुज़फ़्फ़रनगर के इस व्यापक 'मीडियाकृत' माहौल के संदर्भ में समझा जाना चाहिए।

भाजपा उस समय केंद्र की प्रमुख विपक्षी पार्टी थी और सरकार की प्रशासनिक नाकामी को भुनाने के लिए तत्पर बैठी थी। उसने अपनी प्रेस विज्ञप्ति में समाजवादी पार्टी की सरकार की अक्षमता के मुद्दे को बेहतरीन ढंग से उछाला।[28] शहरी मध्यवर्गीय असंतोष के संदर्भ में गढ़ी गयी सुशासन की यह जुमलेबाज़ी 2014 के चुनाव प्रचार का एक अहम हिस्सा थी। नरेंद्र मोदी ने अपना चुनाव प्रचार चंद नारों के साथ शुरू किया था जिन्हें उनकी वेबसाइट पर भी प्रचारित किया गया है :

> सरकार का एक ही धर्म है— इंडिया फ़र्स्ट! सरकार का एक ही धर्मग्रंथ है— संविधान! सरकार को एक ही भक्ति में लीन होना चाहिए— भारत भक्ति! सरकार की एक ही शक्ति है— जनशक्ति! सरकार का एक ही अनुष्ठान है— भारत के 125 करोड़ लोगों की ख़ुशहाली! सरकार की एक ही आचार संहिता होनी चाहिए— 'सबका साथ, सबका विकास'![29]

इस तटस्थ-से बयान को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की भारत की अवधारणा के साथ मिला कर देखना होगा। संघ की पुस्तिका 'हिंदू राष्ट्र क्यों' (व्हाय हिंदू राष्ट्र) में लिखा गया है— 'इस देश का हर नागरिक हिंदू है भले ही वह शैव, शाक्त, वैष्णव, सिख, जैन, मुसलमान, ईसाई, पारसी, बौद्ध या यहूदी किसी भी सम्प्रदाय का हो या किसी भी उपासना पद्धति का अनुसरण करता हो।'[30] इस हिंदू पहचान पर ज़ोर देते हुए संघ की अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा ने 2009 में प्रस्ताव पारित किया कि 'अ.भा.प्र.सभा माँग करती है कि केवल पांथिक आधार पर दिये जाने वाले सभी आरक्षण, छूटें और विशेषाधिकार समाप्त किये जाएँ। प्रतिनिधि सभा देशवासियों का आवाहन करती है कि वे समाज को इन आसन्न ख़तरों से अवगत कराएँ और नीति-निर्धारकों पर दबाव बनाएँ कि वे इन विभेदकारी नीतियों का परित्याग करें।'[31] मोटे तौर पर समकालीन हिंदुत्व हिंदू धर्म की बात नहीं करता बल्कि भारतीयता पर ज़ोर देता है और मानता है कि हिंदुत्व को नकारने का मतलब है अखण्ड भारतीयता को नकारना।

---

[26] जाँच-दल की रिपोर्ट में भी मीडिया पर एक अनुच्छेद दिया गया है पर उसमें ज़ोर सिर्फ़ 'अफ़वाहों के उत्पादन' पर है (आरएफ़एफ़टी, 2013).

[27] ऐन ग्रोज़िंस गोल्ड ने राजस्थान के गाँव के अपने एक हालिया अध्ययन में मोबाइल फ़ोन और बदलती सामाजिक कल्पनाओं के बीच के जटिल रिश्ते पर रोशनी डाली है. देखें, ऐन गोल्ड (2012) : 13-29.

[28] http://www.bjp.org/images/pdf_2013/press_h_dr_sudhanshuji_sep_11_13.pdf. 16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

[29] http://www.narendramodi.in/category/quotes/.16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

[30] http://www.rss.org//Encyc/2012/10/22/Why-Hindu-Rashtra--.aspx?lang=1 . 16 सितम्बर, 2016 को देखा गया. मूल हिंदी में.

[31] http://www.archivesofrss.org/Resolutions.aspx.16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

हाल के सभी विवादों, मसलन, लव–जिहाद, मुसलमानों की बढ़ती आबादी, भारत माता की जय के विवाद के दौरान इस पक्ष पर ज़ोर दिया गया।

बहरहाल, राज्य स्तर पर भाजपा इकाई का नज़रिया बिल्कुल अलग था। उमा भारती ने इस बात पर ज़ोर दिया कि अगर पार्टी नेताओं को दंगा भड़काने के आरोप में गिरफ़्तार किया गया तो उत्तर प्रदेश में तनाव और बढ़ेगा। इन दावों की धुरी में तर्क यह था कि ये घटनाएँ स्थानीय क़िस्म की हैं। यह कुछ ऐसा ही था जैसे क्रिया की प्रतिक्रिया वाला तर्क। मूल बात यह थी कि उत्तर प्रदेश के गरमाते साम्प्रदायिक माहौल का फ़ायदा कैसे उठाया जाए। उत्तर प्रदेश विधानसभा में दंगों के ऊपर बहस से यही बात सामने आती है।

दूसरी तरफ़, विश्व हिंदू परिषद ज़्यादा मुखर थी और उसका रवैया बहसबाज़ी का था। वह लव–जिहाद को इस हिंसा का मूल कारण मानती थी और सरकार से लव–जिहादियों की गतिविधियों पर रोक लगाने के लिए क़ानून बनाने की माँग कर रही थी।[32] इसके मूल में है हिंदू मर्यादा और अभिमान की अवधारणा।[33] इस भड़काऊ व्याख्या ने 2014 के चुनावों के बाद लव–जिहाद विवाद के वक़्त बनी–बनाई साम्प्रदायिक छवियों और पितृसत्तात्मक मूल्यों को राष्ट्रीय स्तर पर मज़बूती दी।

मुज़फ़्फ़रनगर का दंगा और मुसलमानों की चुनावी प्रतिक्रिया

मुज़फ़्फ़रनगर दंगे के प्रति मुसलमानों की चुनावी प्रतिक्रिया से एक अलग ही तस्वीर उभरती है। मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के वक़्त केंद्र में कांग्रेस–नीत यूपीए का शासन था और राज्य में सपा का। सपा 2012 के विधानसभा चुनाव में आसानी से बहुमत हासिल कर सरकार में आयी थी। सपा की जीत इस मायने में महत्त्वपूर्ण थी कि उसे न सिर्फ़ उसका समर्थक समझे जाने वाले यादवों और मुसलमानों का भारी समर्थन मिला था बल्कि ग़ैर–जाटव दलित जातियों का भी अच्छा–ख़ासा वोट मिला था।

उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव के समय मतदान बाद लोकनीति के सर्वेक्षण से पता चलता है कि राज्य में सपा मुसलमानों की स्पष्ट पसंद के रूप में उभरी। दरअसल, मुसलमानों के भीतर मौजूद जाति–भेद का स्थानीय राजनीति में ख़ासा महत्त्व है पर उसका कोई असर सपा के लिए मुसलमानों के समर्थन पर नहीं पड़ा।[34] बहरहाल, सिर्फ़ सपा ने ही अपने टिकट पर मुसलमानों को चुनाव लड़ने का मौक़ा दिया हो ऐसा नहीं है। बसपा, कांग्रेस, पीस पार्टी के भी मुसलमान विधायक हैं। पर 40 की संख्या के साथ सपा सबसे आगे है। उत्तर प्रदेश विधानसभा में कुल 64 मुसलमान विधायक होना बड़ी बात है। मतलब यह कि तक़रीबन 15 फ़ीसदी विधायक मुसलमान हैं। राज्य में मुसलमानों की आबादी 27.15 फ़ीसदी है, इस लिहाज़ से यह कोई छोटी बात नहीं है।

मुज़फ़्फ़रनगर की राजनीति में मुसलमानों की स्थिति बुरी नहीं है। ज़िले का प्रतिनिधित्व ज़्यादातर मुसलमान सांसद/विधायक करते हैं या सेकुलर होने का दावा करने वाली पार्टियाँ। दरअसल, वहाँ से 2012 में भाजपा का एक ही विधायक था।[35] इन मुसलमान विधायकों और ग़ैर–भाजपा उम्मीदवारों को 2012 के चुनाव में बहुत आसान जीत मिली थी। निर्वाचन आयोग के आँकड़े यह दिखलाते हैं कि इन विधायकों को अपने–अपने क्षेत्र में 30 फ़ीसदी से ज़्यादा मत मिले थे। अगर हम इन आँकड़ों का मिलान मतदाताओं की समाजी बनावट (लोकनीति द्वारा एकत्र क्षेत्रवार आँकड़ों) से करें तो यह जीत ज़्यादा उल्लेखनीय लगती है।

[32] विहिप की प्रेस विज्ञप्ति में कहा गया — 'लव जेहादियों के गाँव–गाँव शीलहरण की घटनाएँ जब बर्दाश्त के बाहर हो गयीं तो उनके विरुद्ध समाज का रौद्र रूप 'बहू–बेटियाँ बचाओ' आंदोलन के रूप में खड़ा हुआ है. देखें, http://vhp.org/press-release/.

[33] गौरव और स्वतंत्रता के बारे में हिंदुत्व की अवधारणा के बारे में ज़्यादा तफ़सील से चर्चा के लिए देखें, मंजरी काटजू (2011) : 3–22.

[34] इसका मतलब यह क़तई नहीं है कि मुसलमानों के बीच मौजूदा जाति–भेद का कोई चुनावी महत्त्व नहीं है। सपा ने टिकट बँटवारे में विभिन्न मुसलमान जातियों का जिस तरह ध्यान रखा है वह काफ़ी उम्दा रहा है. यह बात मेरे सामने ज़मीनी अध्ययन के दौरान आयी.

[35] सन 2009 के चुनाव में भाजपा का प्रदर्शन काफ़ी ख़राब रहा था और जीत बसपा के क़ादिर राणा की हुई थी.

तालिका-4
उत्तर प्रदेश विधानसभा की बनावट (पार्टी और वोट के लिहाज़ से)

पार्टी	चुनाव लड़े	जीते	वोट प्रतिशत
समाजवादी पार्टी	401	224	29.15%
बहुजन समाज पार्टी	403	80	25.91%
भारतीय जनता पार्टी	398	47	15%
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	355	28	11.63%
राष्ट्रीय लोकदल	46	9	2.33%
पीस पार्टी ऑफ़ इंडिया	208	4	2.82
राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी	127	1	0.33%
निर्दलीय		14	
कुल		403	

स्रोत : भारतीय निर्वाचन आयोग

पर सवाल यह है कि इन चुने हुए प्रतिनिधियों से दंगों के पहले और बाद में चूक कहाँ हुई?

इस हैरानकुन सवाल को समझने के लिए इन दंगों का चुनावी राजनीति पर क्या असर पड़ा यह देखना होगा। भाजपा जिसने देशव्यापी स्तर पर चुनाव 'सबका साथ, सबका विकास' के नारे के साथ लड़ा

तालिका-5
2012 के उत्तर प्रदेश विधानसभा मतदान में मुसलमानों की पसंद

कुल मुसलमान	19	39	20	7	15
सामान्य मुसलमान	27	41	12	3	17
पिछड़े मुसलमान	13	38	27	9	13

स्रोत : सीएसडीएस-लोकनीति मतदान बाद सर्वेक्षण, 2012।

तालिका-6
उत्तर प्रदेश विधानसभा में मुसलमान विधायक (2012)

पार्टी	विधायक
सपा	40
बसपा	16
निर्दलीय	3
पीस पार्टी	3
कांग्रेस	2
कुल	64

स्रोत : उत्तर प्रदेश विधानसभा की वेबसाइट
http://uplegisassembly.gov.in/ENGLISH/index.html के आधार पर

था उसने मुज़फ़्फ़रनगर में बिल्कुल अलग ही तरह की भाषा का इस्तेमाल किया। भाजपा के अध्यक्ष अमित शाह ने अपने एक चुनावी भाषण में स्पष्ट कहा कि 2014 का चुनाव मुज़फ़्फ़रनगर के दंगों की बेइज़्ज़ती का बदला लेने का मौक़ा है। हालाँकि बदले का जुमला इस्तेमाल करने के लिए उनके ख़िलाफ़ एफ़आईआर दर्ज की गयी[36] लेकिन भाजपा ने हिंदू अपमान के मुद्दे पर ज़ोर देने का अभियान जारी रखा।[37] इसके उलट सपा नेताओं ने दंगों को चुनावी प्रचार का मुख्य मुद्दा नहीं बनाया, पर मुसलमानों की प्रताड़ना का सवाल उनका मुद्दा बना रहा जिससे कि मुसलमानों के रक्षक की पार्टी की छवि पर ज़ोर दिया जा सके।[38]

क्या इसका मतलब यह निकाला जा सकता है कि भाजपा की रणनीति कारगर थी और वह

तालिका–7
मुज़फ़्फ़रनगर ज़िले की राजनीतिक बनावट

विधानसभा क्षेत्र (2012)	एससी*	एससी*	मुसलमान*	विधायक	पार्टी	प्रतिशत मत	उपविजेता
खतौली	16.5	0.0	33.7	करतार सिंह भड़ाना	रालोद	27.4	बसपा
बुढ़ाना	9.6	0.0	30.4	नवाज़िश आलम ख़ान		35.4	रालोद
चरथावल	15.1	0.0	39.5	नूर सलीम		31.2	भाजपा
मुज़फ़्फ़रनगर	9.2	0.0	35.2	चितरंजन स्वरूप#		34.9	भाजपा
सरधाना	20.5	0.0	32.6	संगीत सोम		29.9	रालोद
संसदीय क्षेत्र				**सांसद**	**पार्टी**	**प्रतिशत मत**	**उपविजेता**
मुज़फ़्फ़रनगर, 2009				क़ादिर राणा	बसपा	36.96	रालोद, अनुराधा चौधरी 34.19%
मुजफ़्फ़रनगर, 2014				डॉ. संजीव बालियान	भाजपा	58.9	बसपा, क़ादिर राणा 22.7%

स्रोत : *विधानसभा परिसीमन के बारे में लोकनीति के आँकड़े। भारतीय निर्वाचन आयोग। #19 अगस्त 2015 को मृत। 26 फ़रवरी 2016 को हुए उपचुनाव में भाजपा के कपिलदेव अग्रवाल (65378 मत) ने सपा के गौरव स्वरूप बंसल (58026 मत) को हराया।

साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का फ़ायदा उठाने में कामयाब रही? सतही तौर पर 2014 लोकसभा चुनाव के नतीजे इसी बात की ओर इशारा करते हैं। भाजपा ने लोकसभा चुनाव में उत्तर प्रदेश में भारी बढ़त बनाते हुए 42 फ़ीसदी वोट के साथ 71 सीटों पर जीत हासिल की। जबकि सपा को महज़ 22 फ़ीसदी वोट के साथ 5 सीटें ही मिलीं (तालिका–8)। बहरहाल, साम्प्रदायिक विभाजन की इस तस्वीर पर और गहराई से ग़ौर करने की ज़रूरत है।

तालिका–9 और 10 यह दिखलाते हैं कि दंगों के लिए दोषी कौन था इसके बारे में हिंदुओं और

[36] http://timesofindia.indiatimes.com/india/BJP-president-Amit-Shah-charged-in-Muzaffarnagar-hate-speech-case/articleshow/42177287.cms .16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

[37] मसलन, दंगों के बाद जब 16 सितम्बर, 2013 को विधानसभा की पहली बैठक हुई भाजपा विधायकों ने 'हिंदुओं पर अत्याचार बंद करो' का नारा लगाया (उत्तर प्रदेश विधानसभा कार्यवृत्त, 16वीं विधान सभा, 2013 — द्वितीय सत्र, 16 सितम्बर, 2013).

[38] सपा के चुनाव घोषणापत्र में मुज़फ़्फ़रनगर दंगों की चर्चा तो नहीं की गयी थी पर सच्चर आयोग और गुजरात दंगों के पीड़ितों को न्याय के मुद्दे की चर्चा काफ़ी प्रमुखता से की गयी थी (http://www.samajwadiparty.in/pdf/SAPA-GP.pdf (20 April 2016).

मुसलमानों की समझ में साफ़ अंतर है। ज़ाहिर है कि ज़्यादातर मुसलमान भाजपा को ज़िम्मेदार मानते हैं पर मुसलमानों के भीतर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो सपा को दोषी मानते हों।

लोकनीति-एनईएस के सर्वे से साफ़ है कि मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के बावजूद 2014 में मुसलमान वोटरों की पहली पसंद सपा ही थी। उसके बाद ही बसपा और कांग्रेस का नम्बर आता था। दिलचस्प है कि इस बार भाजपा-अपना दल गठबंधन ने भी मुसलमान वोटरों के बीच अपनी पहुँच बढ़ाई। इसके दो नतीजे निकाले जा सकते हैं। मुज़फ़्फ़रनगर का दंगा उत्तर प्रदेश के मुसलमान वोटरों के लिए फ़ैसलाकुन वाक़या नहीं था। नतीजतन, मुसलमान वोटरों ने यह जानते हुए भी कि सपा केंद्र में सरकार नहीं बना सकती उसे ही वोट देना पसंद किया (तालिका-11)। शायद इसलिए कि चुनावी राजनीति में इलाक़े की समाजी बनावट ज़्यादा मायने रखती है। दूसरे, 2014 में चुनावी फ़ायदे के लिए वोटरों के साम्प्रदायिक बँटवारे की भाजपा की तमाम चालबाज़ियों के बावजूद कमोबेश सभी मुसलमान वोटरों ने वोट देते समय ग़ैर-साम्प्रदायिक मुद्दों को ज़्यादा तरजीह दी।

तालिका-8
उत्तर प्रदेश में लोकसभा चुनाव, 2014

पार्टी का नाम	वोट प्रतिशत	सीटें जीते
भारतीय जनता पार्टी	42.30	71
समाजवादी पार्टी	22.20	5
बहुजन समाज पार्टी	19.60	0
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	7.50	2
अपना दल	1.00	2

स्रोत : भारत निर्वाचन आयोग

तालिका-9
मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के लिए कौन ज़िम्मेदार था?

	कुल	हिंदू	मुसलमान
सपा	44.9	50.0	23.8
भाजपा	13.3	8.4	34.3
बसपा	7.6	8.4	4.9
कांग्रेस	4.2	4.6	1.9

नोट : आँकड़े फ़ीसदी में। सवाल— आपकी राय में मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के लिए सबसे ज़्यादा कौन-सी पार्टी ज़िम्मेदार थी? (पहली पार्टी 'मालूम नहीं' के जवाब को शामिल नहीं किया गया।
स्रोत : लोकनीति-एनईएस सर्वे, उत्तर प्रदेश, जनवरी 2014।

निष्कर्ष

अब हम इस परचे के दोहरे मूल प्रश्न की ओर लौटते हैं — क्या आज़ाद भारत में प्रतिनिधित्व की सोच और साम्प्रदायिक घटनाओं के बीच कोई रिश्ता रहा है? यदि हाँ, तो इस जटिल रिश्ते का स्वरूप क्या रहा है और उसमें क्या बदलाव आये हैं, ख़ासकर 1992 के बाद? मुसलमानों का प्रतिनिधित्व अगर ख़ुद मुसलमान नुमाइंदे करें तो लक्षित हिंसा में कमी आएगी, मुज़फ़्फ़रनगर के मामले में तो यह सोच सही नहीं उतरती। हमारी चर्चा से साफ़ है कि उत्तर प्रदेश विधानसभा में मुसलमान नुमाइंदों की तादाद अच्छी-ख़ासी थी। ख़ुद मुज़फ़्फ़रनगर का प्रतिनिधित्व भी लगभग पूरी तरह मुसलमान नुमाइंदों या ग़ैर-भाजपा पार्टियों के हाथों में था। यहाँ साम्प्रदायिकता और चुनावी राजनीति के रिश्ते के बारे में

तालिका-10
सपा सरकार ने दंगा के बाद के हालात को किस तरह सँभाला

	कुल	हिंदू	मुसलमान
पूरी तरह संतुष्ट	11.5	11.4	11.4
कुछ हद तक संतुष्ट	33.2	35.1	26.1
एक हद तक असंतुष्ट	7.3	6.5	10.0
पूरी तरह असंतुष्ट	32.9	30.7	41.1
अनिर्णीत	15.2	16.3	11.4

नोट :आँकड़े फ़ीसदी में, सवाल : मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के बाद हालात को उत्तर प्रदेश सरकार ने जिस तरह सँभाला क्या आप उससे संतुष्ट हैं?
स्रोत : लोकनीति-एनईएस उत्तर प्रदेश ट्रैकर सर्वे, 2014

तालिका-11
लोकसभा चुनाव, 2014 में मुसलमानों की पसंद

	कांग्रेस-रालोद	सपा	बसपा	भाजपा-अपना दल	अन्य
सभी मुसलमान	11	58	18	10	3
सामान्य मुसलमान	13	58	7	16	6
मुसलमान ओबीसी	10	59	25	5	1

नोट : आँकड़े फ़ीसदी में।
स्रोत : लोकनीति-एनईएस उत्तर प्रदेश ट्रैकर सर्वे, 2014।

स्टीवन विलकिंसन के अध्ययन का हवाला प्रासंगिक होगा। वे लिखते हैं :

> तीखी चुनावी होड़ समूह आधारित हिंसा को घटा सकती है तो बढ़ा भी सकती है। विभिन्न पार्टी ख़ेमेबंदी में बेतरह बँटे राज्यों में सरकारें अपने गठबंधन को क़ायम रखने और भविष्य के लिए गठबंधन का रास्ता साफ़ करने के लिए अल्पसंख्यकों की रक्षा करेंगी। असल में कमतर पार्टी ख़ेमाबंदी वाले राज्यों (मसलन, गुजरात) के मुक़ाबले तीक्ष्ण ख़ेमेबंदी वाले राज्यों (मसलन, केरल) में साम्प्रदायिक दंगों के मामले में दो-तिहाई की कमी दिखाई देती है। इसकी वजह यह है कि बेतरह ख़ेमाबंदी की अवस्था में अल्पसंख्यकों को सुरक्षा देना राजनेताओं की मजबूरी बन जाती है ताकि वे अपने चुनावी आधार को बनाए रख सकें और भविष्य में मौक़ा आने पर अल्पसंख्यक-समर्थित पार्टियों के साथ गठजोड़ कर सकें।[39]

लब्बेलुबाब यह कि मुज़फ़्फ़रनगर दंगों को 2014 के चुनावी दाँवपेंच के संदर्भ में जाँचा-परखा जाना चाहिए। हमारी चर्चा से साफ़ है कि भाजपा और हिंदुत्ववादी समूहों ने हिंसा की घटनाओं को सीधे-सीधे राजनीतिक रंग देने की कोशिश की। इसके उलट समाजवादी पार्टी ने घटना से औपचारिक दूरी बनाए रखने की कोशिश की, पर साम्प्रदायिकता और मुसलमानों की प्रताड़ना की मिसाल के तौर पर मुज़फ़्फ़रनगर का इस्तेमाल जारी रखा। भाजपा की 'हिंदू पराजय' की जुमलेबाज़ी, सपा की यादव-मुसलमान गठबंधन बनाने और बनाए रखने की कोशिशों और बसपा के दलित-मुसलमान एकता के नारे को इस नज़रिये से आसानी से समझा जा सकता है। बहरहाल, यह व्याख्या एक नया सवाल खड़ा करती है — अगर साम्प्रदायिक हिंसा ख़ेमाबंद राजनीति का अभिन्न अंग है तो मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की असरकारिता को किस तरह आँका जाए?

मेरा मानना है कि 'मुसलमान प्रतिनिधित्व' के सवाल को औपचारिक और अनौपचारिक दोनों ही नज़रिये से देखा जाना चाहिए। मुसलमान नुमाइंदे—विधायक और सांसद— जो कोई ज़रूरी नहीं कि सिर्फ़ मुसलमान वोटरों के वोट से चुने गये हों, प्रतिनिधित्व के औपचारिक स्वरूप को रेखांकित करते हैं। संविधान के प्रावधानों के मुताबिक़ एक ख़ास क्षेत्र के सभी बाशिंदों (वोटरों) को एक समुदाय माना जाता है जिनका राजनीतिक हित समान होता है और इसलिए उनका प्रतिनिधित्व उनमें से ही किसी को करना चाहिए। औपचारिक चुनावी प्रतिनिधित्व के उलट अनौपचारिक प्रतिनिधित्व सभी मुसलमानों की हिस्सेदारी से तय हो यह ज़रूरी नहीं। इस मामले में 'मुसलमानों की मौजूदगी' को अलग ढंग से आँका जाता है। सरकारी संस्थाओं, सार्वजनिक निकायों, निर्णयकारी फ़ोरमों, रसूख़वाले व्यक्तियों, और धार्मिक और नागरिक संगठनों में मुसलमानों की मौजूदगी को इसका पैमाना माना जाता है।[40]

मुज़फ़्फ़रनगर दंगों के मामले में औपचारिक प्रतिनिधित्व शायद दो वजहों से कारगर नहीं हो पाया। पहले तो ख़ेमाबंद राजनीति (पार्टी नीति इत्यादि) की मजबूरियों की वजह से मुसलमान विधायक ख़ालिस मुसलमान नुमाइंदे के बतौर काम नहीं कर सकते थे।[41] दूसरी ओर सबसे बड़ी यह वजह थी कि चुने हुए मुसलमान प्रतिनिधि मुसलमानों की बनी-बनाई छवि के चौखटे में पूरी तरह फ़िट नहीं बैठते। वे पास-पड़ोस के अपने मुसलमान वोटरों के सरोकारों तक सीमित रहे। लब्बेलुबाब यह कि उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की ज़मीनी बहुरूपता मुसलमानों की आरोपित एकरंगी छवि पर भारी पड़ी। इसके अलावा प्रतिनिधित्व के अनौपचारिक ढाँचे के काम का तरीक़ा बिल्कुल अलग था। दंगों के बाद पुनर्निर्माण के दौरान मुस्लिम सामाजिक-धार्मिक संगठनों— ख़ासकर जमीयत उलेमा-ए-हिंद— ने अहम भूमिका निभायी। 'अनौपचारिक प्रतिनिधित्व के इस ढाँचे' ने ज़मीनी स्तर पर काम किया जिसे राजसत्ता की स्वीकृति भी मिली।

---

[39] स्टीवन विलकिंसन (1997) : 236-37.

[40] देखें, हिलाल अहमद (2016) : 348-74.

[41] 30 सितम्बर 2013 की जुम्मे की नमाज़ के बाद की रैली में क़ादिर राणा का भाषण एकमात्र मामला था जब किसी मुसलमान प्रतिनिधि ने सीधे-सीधे मुसलमान के तौर पर अपनी बात कही.

निचोड़ के तौर पर कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिक हिंसा के बारे में समकालीन विमर्श के दोनों पहलू— लक्षित हिंसा और सामाजिक हाशियाकरण— मुसलमानों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व की गुत्थी को सुलझाने के लिए काफ़ी अहम हैं। विधायी संस्थानों को ज़्यादा जवाबदेह और समावेशी बनाने के लिए उनमें मुसलमानों की औपचारिक भागीदारी निहायत ही ज़रूरी है। मुसलमान प्रतिनिधियों को एक ऐसे संस्थागत परिवेश में काम करना होगा जो धर्म के आधार पर प्रतिनिधित्व को स्वीकार नहीं करता। इसी वजह से यह ज़रूरी है कि प्रतिनिधित्व के औपचारिक ढाँचे के बाहर मुसलिम नुमाइंदगी के दूसरे रास्तों और ढाँचों की तलाश की जाए जो मुसलमानों की बहुलता का ज़्यादा सटीक तरीक़े से प्रतिनिधित्व कर सके।

संदर्भ

इम्तियाज़ अहमद (1967), 'द अशरफ़ ऐंड अजलफ़ कैटेगरीज इन इण्डो-मुस्लिम सोसाइटी', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली.*

उत्तर प्रदेशन विधान सभा की कार्रवाई, *सोलहवीं विधान सभा, दूसरा सत्र,* 2013.

गृह मंत्रालय की रिपोर्ट, भारत सरकार.

गौरांग. आर. सहाय (2004), 'ट्रेडिशनल इंस्टीट्यूशंस ऐंड कल्चरल प्रैक्टिसिज वीजा-वी एग्रेरियन मॉबीलाईज़ेशन : द केस ऑफ़ भारतीय किसान यूनियन', *सोसियोलॉजिकल बुलेटिन,* 53 (3).

एम्मा टारलो (2010), *विज़िबली मुस्लिम्स : फ़ैशन, पॉलिटिक्स, फ़ेथ,* ऑक्सफ़र्ड : बर्ग.

घटना स्थल से एकत्रित तथ्यों की रिपोर्ट (2013), *रिपोर्ट ऑफ़ द फ़ैक्ट फ़ाइंडिंग टीम (आरएफ़एफ़टी) : मुज़फ़्फ़रनगर 2013 : वायलेंस बाई पॉलिटिकल डिजाइन,* http://www.milligazette.com/news/9286-muzaffarnagar-riots-2013-violence-by-political-design. पर उपलब्ध.

जी.के. लिटन (1996), 'इनक्लूसिव व्यू ऑफ़ रिलीजन : अ रूरल डिस्कोर्स इन उत्तर प्रदेश', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* 31(23).

तलाल असद (2001), 'रीडिंग अ मॉडर्न क्लासिक' : डब्ल्यू.सी. स्मिथ्स 'द मीनिंग ऐंड एंड ऑफ़ रिलीजन', *हिस्ट्री ऑफ़ रिलीजंस,* 40 (3).

द पोस्ट-सच्चर एवैल्युएशन रिपोर्ट 2014, गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया. http://iosworld.org/download/Post_Sachar_Evaluation_Committee.pdf. पर उपलब्ध.

पसमांदा क्रांति अभियान (2013). संयोजक : हाशिम पसमांदा, pasmandakrantiabhiyan@gmail.com.

भाजपा की प्रेस विज्ञप्ति : देखें, http://bjp.org/images/pdf_2013/press_h_dr_sudhanshuji_sep_11_13 pdf 16 सितम्बर, 2016 को देखा गया.

ऐन ग्रोजिंस गोल्ड (2012), 'सींस ऑफ़ रूरल चेंज', वसुधा डालमिया एवं रश्मि सदाना (सं.), द *केम्ब्रिज कम्पेनियन टू मॉडर्न इण्डियन कल्चर,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस.

मंजरी काटजू (2011), 'द अंडरस्टैंडिंग ऑफ़ फ्रीडम इन हिंदुत्व', *सोशल साइंटिस्ट,* 39(3/4).

राज्य सभा की कार्यवाही, 05.02.2014. SK-MCM/1A/11.00.

वीएचपी की प्रेस विज्ञप्ति. http://vhp.org/press-release/ पर उपलब्ध.

हिलाल अहमद (2012), 'पब्लिक प्रेजेंस ऑफ़ मॉस्क्स ऐंड मुस्लिम आइडेंटिटी इन पोस्ट-कॉलोनियल डेल्ही', द *बुक रिव्यू,* 36.

हिलाल अहमद (2016), 'रिप्रजेंटिंग मुस्लिम्स इन पोस्ट-कॉलोनियल इण्डिया: कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ़ अ डिस्कोर्स', शेखर बंद्योपाध्याय (सं.), *डीकोलोनाईज़ेशन ऐंड दी पॉलिटिक्स ऑफ़ ट्रांजीशन इन साउथ एशिया,* ऑरियंट-ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.